ISSN: 2249-894X IMPACT FACTOR : 5.2331(UIF) VOLUME - 6 | ISSUE - 12 | SEPTEMBER - 2017

REVIEW OF RESEARCH

नागार्जुन के उपन्यासों में मिथिला

डॉ. सतीश कुमार
सहायक प्राध्यापक, एम.एम.टी.एम. कॉलेज, दरभंगा।

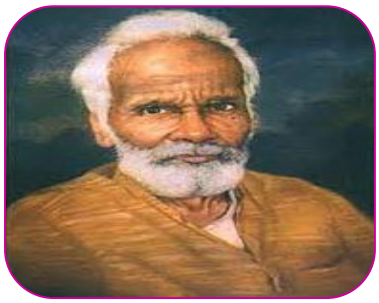

नागार्जुन सामाजिक राजनीतिक उपन्यासकार में इनका लेखन काल 1930 से 1980 तक है। यह काल भारतीय इतिहास का संघर्ष–काल है। इस काल–खंड में देश की आजादी की लड़ाइ परवान चढ़ी। द्वितीय विश्वयुद्ध हुआ, देश का विभाजन हुआ, आजादी मिल, गणतंत्रातमक शासन–व्यवस्था लागू हुई।

नागार्जुन का उपन्यास–लेखन 1946–47 में शुरू हुआ और लगभग 1978 तक चलता रहा। वैसे तो 'बाब बटेसरनाथ' के माध्यम से उन्होंने गत डेढ़–दो वर्षों के इतिहास में भी ताक–झाँक करने की कोशिश की है। स्वाभाविक है कि मिथिला के इसी कालखंड की समस्याएँ या स्वरूप उनके उपन्यासों में चित्रित होते।

जो समाज जितना ही प्राचीन और संस्कृतिनिष्ठ होता है, उसकी समस्याएँ भी उतनी ही जटिल और गंभीर होती है। प्राचीन काल में कितनी जातियाँ अपनी–अपनी पहचानों और समस्याओं के साथ यहाँ आई। आबादी के दृष्टिकोण से आधुनिक मिथिला में गैर–मैथिलों की संख्या का प्रतिशत मैथिल ब्राह्मणों से बहुत अधिक है लेकिन नागार्जुन के उपन्यास–लेख–काल तक वर्चस्व मैथिल ब्राह्मणों का ही बना रहा। आर्थिक समृद्धि और सारस्वत वैभव उन्हीं के पास सिमटा रहा। ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में वे ही आगे रहे लेकिन परिवर्तित परिवेश और परिस्थिति में उनके वर्चस्व को गैर–मैथिलों की ओर से चुनौती मिल रही है। दुर्गानन्द सिंह (रतिनाथ वी चायी), यशोधर चौधरी, खान बहादुर सादुल्ला खाँ (बलचनमा), मसाही के जमीन्दार (वरूण के बेटे) और रूपौली के जालिम जमीन्दार (बाबा बटेसरनाथ) को कड़ी चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। जो जातियाँ जितनी बड़ी हैं, उनकी सामाजिक समस्याएँ उतनी ही अधिक और गंभीर है। निम्न अन्त्यज वर्गो के उन लोगों के सामने कौन–सी सामाजिक समस्या होगी, जिनका सारा जीवन पेटभर अन्न के लिए संघर्ष करते ही बीत जाता है किन्तु इसके बावजूद जातीय स्वाभिमान तो उनका जगा ही रहता है। बलचनमा पिछड़े वर्ग का है, लेकिन उसके मालिक जब उसकी बिन ब्याही बहन की इज्जत लूटने का प्रयास करते हैं तो वह फुफकार उठता है, 'छोअे मालिक से डटकर मोर्चा लिए बिना निस्तार नहीं साफ–साफ बात की। या तो तुम अपनी बहन को उस जालिम के हवाले कर दो या फिर मुसीबतों का पहाड़ खुशी–खुशी सिर पर उठा लो। दो ही बात थी। तीसरा रास्ता नहीं था। मैंने मन ही मन अपनी ओर से पक्का कर लिया कि कैद काटूँगा, फाँसी चढ़ूँगा, गाँव से उजड़ जाऊँगा, मगर इस शैतान के आगे सपने में भी सिर नहीं झुकाऊँगा। बेशक मैं गरीब हूँ। तेरे पास अपार संपदा है, कुल है, खानदान है, जिला–जवार में मान है और मेरे पास कुछ नहीं है। मगर आखिरी दम तक मैं तेरे खिलाफ डटा रहूँगा। अपनी सारी ताकत को तेरे विरोध में लगा दूँगा। माँ और बहन को जहर दे दूँगा किन्तु उन्हें तू अपनी रखेली बनाने का सपना कभी पूरा न कर सकेगा।'[1] यह हुंकार केवल बलचनमा का नहीं है, तमाम नीची और अन्त्यज जातियों का हूँकार है।

मिथिला की एक समस्या है अनमेल विवाह की। विशेषतः ब्राह्मणों की जातीय और सामाजिक समस्या है। कुलीनता के नाम पर यौवन की देहरी पर पाँव रखती किशोरियों को पैंतालीस से लेकर पैंसठ साल तक बूढ़े की काम वासना का शिकार बनने के लिए मजबूर कर देना मैथिल ब्राह्मणों में आम बात थी। व्यभिचार और विधवाओं की समस्या इसी प्रथा की देन थी। 'रतिनाथ की चाची' की गौरी इसी प्रथा की वेदी पर चढ़ी थी। गौरी के पिता चुम्मन झाण ने कुलीनता के नाम पर गौरी का विवाह शुभंकरपुर के बैद्यनाथ झा से कर दिया था। वे दमे के रोगी और सुस्त स्वभाव के थे।'2 भरी जवारी में ही उसे वैधव्य वरण करना पड़ गया था। उधर एक ओर उम्र की अतृप्त प्यास और दूसरी ओर देवर जयनाथ की उफनती काम वासना। परिणाम वही हुआ, जो होना चाहिए था। गौरी का पूरा भावी जीवन लांछना, प्रताड़ना और अवमानना से भर गया। समाज की लांछना, परिवार की प्रताड़ना और बेटे की अवमानना का दंश जीवन भर भोजना ही उसका भाग्य बन गया। 'रतिनाथ की भाभी' की दमयंती भी इसी प्रकार चढ़ती जवानी में ही विधवा होकर मायके आ गई थी। वेधव्य को धत्ता बताते हुए रंगरेलियों में डूब गई थी लेकिन जिन्दगी वे उस खतरनाक मोड़ से आगे निकल आने पर समाज के 'धरम–रकम' का ठीका लेकर रतिनाथ की भाभी को अपने कुकर्म की सजा सुना रही थी। ऐसे ही इन्द्रमणि ने अपनी लड़कियों–शकुन्तला और जनक किशोरी की शादी रूपये लेकर की थी।

गैर–स्वर्गीय के जीवन का सबसे मुख्य आधार होता है उनका श्रम। पुरूष–स्त्री, सब मिलकर श्रम करते हैं खेतों और खलिहानों में संभव हुआ तो कल–कारखानों में भी किन्तु नागार्जुन के चित्रित मिथिलांचल में कल–कारखाने नहीं हैं, इसीलिए उनमें स्त्रियों के श्रम करने का प्रश्न ही नहीं उठता है। अगर अपनी दस–पाँच कट्ठा जमीन हुई तो उसमें श्रम करती हैं या बड़े किसानों–जमींदारों के खेतों में। 'गरीबों के यहाँ मैया यह सब चोंचले–नखरे नहीं चलते। बहू हो चाहे बेटी, खेत में काम करने जाना पड़ेगा, पानी भरना होगा, माल–मवेशी चराने होंगे। सिंगार–पटार में बर्बाद करने लायक बखत गरीब घर की जनानी को कहाँ से मिलेगा मैया? बड़ी जात वाले चाहे जितना भी गरीब हों, उनके घर की औरतें रोजी धंधा के कामों में मर्दों का हाथ नहीं बँटा सकतीं। उनके यहाँ औरतें निकम्मी निठल्ली बैठी रहती हैं। जितना ही बड़ा खानदान होगा, औरतों में उनता ही जास्ती निठल्लापन पाओगे। हमारी औरतें मेहनत–मजदूरी का दान रखती हैं। हमारी जिन्दगी का सहारा है, हाथ पैर।[3] बड़ी जाति वालों की औरतों में चरित्रहीनता का एक कारण यह निठल्ला या निकम्मापन भी हो सकता है। पहले 'रतिनाथ की भाभी', 'उग्रतारा', 'पारो', 'अभिनन्दन' आदि कृतियों में जिस व्यभिचार का उल्लेख हुआ है, उनमें से कोई भी औरत कामकाजी या श्रमिक नहीं है। वे सब तथाकथित कुलीन परिवारों की हैं। यहाँ कुलीनता की आड़ में ही चरित्रहीनता के खेल चलते रहते है।

प्राचीन वर्ण–व्यवस्था वाला समाज मध्यकाल में ही विभिन्न नये समुदायों के संपर्क में आकर अपना रूप परिवर्तित कर चुका था। रूप परिवर्तन की वह प्रक्रिया आधुनिक काल तक चलती रही। यहाँ मुसलमान आये, इसाइ आये और अनेक मतों और विश्वासों के साथ भिन्न–भिन्न जातियाँ और यहीं के होकर रह गईं। किन्तु वर्चस्व हिन्दुओं का ही बना रहा। नागार्जुन उपन्यासकार थे, समाजशास्त्री नही। उनका उद्देश्य हिन्दू समाज की जातियों का वर्गीकरण उस रूप में नही किया, जिस तरह से आचार्य हजारी प्रसाद ने। लेकिन सामाजिक उपन्यासकार होने के कारण सामाजिक समस्याओं से आँखें भी नहीं चुका सकते थे। तिरहुतिया ब्राह्मणों की सड़ांध को ऊपर से आना उनका उद्देश्य था। छुआछुत वाली समस्या भी उसी उद्देश्य की अंश थी। इसीलिए अवसर मिलते ही उसे भी उजागर कर देते थे। बलचनमा से उन्होंने कहलवाया है। 'तिरहुतिया बाभन बड़े खटकर्मी होते हैं। छोटी जात वालों का छुआ नहीं खाएँगे। अब तो खैर सब चलता है, मगर इस बात का काफी ख्याल रखा जाता है कि गाँव–घरवालों को नहीं मालूम हो। पोल सब की सब को मालूम है किन्तु एक–दूसरे के सामने सभी बाबू–भैया पाक–साफ बने रहते हैं। फूल बाबू ने मुझे अच्छी तरह समझा दिया था कि गाँव में यह सब मत बताना।'[4]

आजादी की लड़ाई के समय तक मधुबनी खादी वस्त्र के लिए देश भर में विख्यात था। आजादी के बाद यह धंधा भी प्रभावित हुआ है। पहले घर–घर में चर्खे चलते थे और छोटे–छोटे कस्बों में करघे। व्यवसाय बिल्कुल ठप्प नहीं हुआ है लेकिन अपने पुराने गौरव से वंचित अवश्य हो गया है। नागार्जुन ने 'रतिनाथ की चाची' में चरखे–करघे का वर्णन किया है, 'गौरी सब तरह से अपमानित और उपेक्षित होकर चरखे चलाने लगती है। दिन–रात चरखा चलाकर अपने लायक पैसा कमा लेती है।'[5] अब भी इसके विकास की संभावनाएँ हैं लेकिन आजादी के बाद श्रमशीलता के प्रति उपेक्षा का भाव सारी संभावनाओं को मिटा रहा है। इसके लायक–उपयुक्त

माहौल नहीं रह गया है। माहौल को बिगाड़ने में समाज के सत्पुरूषों का हाथ तो है ही, चरखा संघ वालों का भी है, 'तरकुलवा से गर्भपात कराकर लौटने के बाद से ही गौरी चरखा चलाकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर रही है। पच्ची–तीस रूपसे हर महीने इससे निकल आतेह"। सूत बेहद सटीक काटती है लेकिन चरखा संघ वाले भी कम चालाक नहीं होते। चाची जैसे कर्त्तिनों के सूत को कभी तो एक सौ दस नम्बर का करार देते हैं और कमी साठ का। तरीका चरखा संघ वालों का यह है कि पहले कुछ दिनों तक महीन सूत काटने वाली के प्रति कुछ इंसाफ का अभिनय किया, सूतों के माकुल नम्बर दिए। बाद में धीरे–धीरे नम्बर घटाते हुए। झख मारकर कर्त्तिनों को यह सब बर्दाश्त करना पड़ता है। तभी तो चाची जैसी कर्त्तिनें अखिल भारतीय सूत प्रतियोगिता में सर्वप्रथम पदक पाने पर भी इतनी कम मजदूरी पाती है।'[6]

संदर्भ सूची–

1. 'नागार्जुन–चुनी हुई रचनाएँ', संपादक– शोभाकांत, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985, पृ0–187
2. वही,
3. वही, पृ0–231
4. वही, पृ0–165
5. वही, पृ0–84
6. वही, पृ0–84–85